

हिन्दी-साहित्य की विभिन्न विधाओं में बाजारवाद

डॉ० विनोद कुमार 'विद्यार्थी'

बाजारवाद ने वैश्वीकरण के बहाने भारतीय समाज में अपनी जड़े मजबूती से जमा ली है। इससे समाज की स्थितियाँ बड़ी तेजी से बदल रही हैं। “सूचना प्रौद्योगिकी के विस्तार के सहारे उपभोक्ता समाज का सांस्कृतिक वर्चस्व, नव साम्राज्यवादी शक्तियों का आधारभूत अस्त्र है। आवारा लुच्ची पूँजी का एक खेल जहाँ मनुष्य एक साथ खरीददार भी है और बिकाऊ भी। इस उपभोक्तावादी समाज ने अपने अंदर कई समस्याएँ पैदा की है।”

“बाजारवाद द्वारा पैदा की गई इन्हीं स्थितियों का चित्रण हिन्दी-साहित्य कर रहा है और साथ ही इन स्थितियों के खिलाफ प्रतिरोध भी। यद्यपि बाजार में मुनाफा कमाने और बिकनेवाली चीजों को माल बनाकर बेचने का बाजारू फार्मूला हिन्दी-साहित्य में भी विकसित हुआ है। आत्मकथा के नाम पर अपने जीवन के अनछुए पहलुओं को बेचने का प्रचलन बढ़ा है। उत्तर-आधुनिकता ने जिस विखंडनवाद का नारा दिया, उसके कारण दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श और आदिवासी-विमर्श साहित्य ने भी अपनाया है। कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना, निबंध, आत्मकथा आदि गद्य-पद्य दोनों विधाओं में समाज के सामने उत्पन्न हुई, नई स्थितियों के बीच आम जनता के दुःख और उसकी पीड़ा, बेचैनी को कलात्मक ढंग से व्यक्त करने की पूरी कोशिश साहित्य की सारी विधाओं में हो रही है।” पूँजीवाद ने आर्थिक असमानता को जन्म दिया है और असमानता को और भी फलने-फूलने का मौका प्रदान किया है।